आयोजना, बाजार या विकेंद्रीकरण के माध्यम से विकास *

श्यामला गोपीनाथ

मुझे भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान की स्वर्ण जयंती के दौरान 'आयोजना, बाजार या विकेंद्रीकरण के माध्यम से विकास' विषय पर सेमिनार का उद्घाटन करते हुए बहुत खुशी हो रही है। भारत के आर्थिक विकास के वर्तमान चरण में इस सेमिनार का विषय अत्यंत महत्वपूर्ण है। मुझे पूरा विश्वास है कि इस त्रि-दिवसीय सेमिनार से आमूल-चूल खोज तथा आमूल-चूल परिवर्तन के जरिए भारत की सफलतापूर्वक दिशा निर्धारित करने में नीति-निर्माण से जुड़े तमाम मुद्दों के प्रति उपयोगी अंतर्दृष्टि प्राप्त होगी। इस सेमिनार के विषय पर अलग-अलग विचार हो सकते हैं और मुझे विश्वास है कि इस सेमिनार में भाग लेने वाले प्रतिष्ठित विद्वान उन पर अपने विचार रखेंगे। इस सेमिनार से इस प्रासंगिक विषय पर गहन अनुभवों को आपस में बांटने तथा उन पर विचार-विमर्श करने का एक महत्वपूर्ण मंच प्राप्त होगा। ऐसे महत्वपूर्ण विषय पर यह सेमिनार आयोजित करने के लिए मैं भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, मुंबई के मानविकी तथा सामाजिक विज्ञान विभाग को बधाई देना चाहूँगी।

1980 के दशक के मध्य तथा 1990 के दशक की सुधार प्रक्रिया के फलस्वरूप बाजार के सुगम संचालन के लिए पूर्व शर्तें धीरे-धीरे निर्धारित करने में सफलता मिली है। तथापि, इसी के साथ-साथ आठवीं, नौवीं तथा दसवीं पंचवर्षीय योजनाओं ने भी अर्थव्यवस्था को एक समग्र दिशा प्रदान की। कई मोर्चों पर इस तरह के अनुभव का नतीजा उत्साहवर्धक रहा है हालांकि अब भी एजेंडा का एक बड़ा हिस्सा पूरा किया जाना बाकी है। सकारात्मक दृष्टि से देखा जाए तो भारत विकास के ढीले-ढाले कार्य-निष्पादन, जिसे स्व. प्रो. राजकृष्ण ने अपनी मुहावरेदार शैली में "विकास का हिंदू दर" कहा था, का दौर तोड़कर वर्ष 2003-04 से उच्च विकास के दौर में प्रवेश कर चुका है। हालांकि

* श्रीमती श्यामला गोपीनाथ, उप गवर्नर, भा.रि.बैंक द्वारा 21 जनवरी 2008 को इंडियन इन्स्टिट्यूट ऑफ टेक्नॉलॉजी, मुंबई में एक सेमिनार पर दिया गया उद्घाटन भाषण। इस भाषण को तैयार करने में डॉ. जी. एस. भाटी, अनुपम प्रकाश तथा स्नेहल हेरवाडकर द्वारा दिया गया सहयोग आभारपूर्वक स्वीकार किया जाता है।

दसवी पंचवर्षीय योजना की अवधि (वर्ष 2002-03 से 2006-07) के दौरान वास्तविक सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) में वृद्धि की दर औसत रूप से 7.6 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही लेकिन वर्ष 2005-06 तथा 2006-07 के दौरान विकास की दर 9.0 प्रतिशत से अधिक रही। इस दौर में आकर भारतीय अर्थव्यवस्था के सामने एक प्रमुख मुद्दा यह है कि क्या विकास का यह दौर स्थायी रूप से चलता रहेगा। इस संदर्भ में आयोजना बनाम विकेंद्रीकरण बनाम बाजार से जुड़ी बहस निर्णायक हो जाती है। एक बात बिल्कुल साफ है कि भारत को एक विकासशील अर्थव्यवस्था से एक विकसित अर्थव्यवस्था तक की यात्रा के लिए रणनीतियों में सही तालमेल बिठाना आवश्यक होगा।

भारत में आर्थिक नीति पर पुनर्विचार अपने आप में एक अलग तथा अनन्य प्रक्रिया नहीं है बल्कि वह इस विषय में अंतरराष्ट्रीय सोच-विचार से उपजा है। आर्थिक सुधारों की व्यापक रूप-रेखा, जो आठवें दशक के मध्य में शुरू की गई थी, वह उस समय तमाम विकाशील देशों द्वारा किए जा रहे सुधारों से बहुत भिन्न नहीं थी। आयात प्रतिस्थापन, सार्वजनिक क्षेत्र के वर्चस्व और निजी क्षेत्र में व्यापक सरकारी नियंत्रण पर आधारित विकास की रणनीति की सीमाएं तब तक उजागर हो चुकी थीं तथा व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन करने के सिवा कोई चारा नहीं था। व्यवस्था में परिवर्तन की मुख्य विशेषताओं में सरकारी नियंत्रणों का उदारीकरण, निजी क्षेत्र को बड़ी भूमिका सौंपना तथा विश्व अर्थव्यवस्था के साथ -ज्यादा-से-ज्यादा एकीकरण शामिल थे। भारत में सुधार इस मामले में शेष विश्व से भिन्न रहा कि इसे भारतीय संदर्भ तथा भारत की विशिष्ट परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए बहुत क्रमिक रूप से कार्यान्वित किया गया और इन क्रमिक सुधारों की रणनीति का प्रतिफल यह रहा कि इससे अर्थव्यवस्था को उस तरह के किसी वित्तीय संकट से बचाया जा सका जो पूर्वी एशियाई तथा लातीनी अमरीकी देशों की अर्थव्यवस्थाओं के समक्ष पैदा हो गए थे।

भारत में आयोजना की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने के बाद मैं उन नीतिगत परितवर्तनों पर विचार करना चाहूँगी जो भारतीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में संरचनात्मक सुधारों का एक हिस्सा थे। मैं इस क्रम में सुधारों के बाद अर्थव्यवस्था के कार्यनिष्पादन के बरक्स उसकी उपलब्धियों की भी समीक्षा करना चाहूँगी। अंत में मैं अपने व्याख्यान में इस दिशा में आगे की कुछ चुनौतियों को भी रेखांकित करूँगी।

I. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

योजना आयोग की स्थापना मार्च 1950 में की गई थी जिसका उद्देश्य देश के संसाधनों का सक्षमतापूर्वक उपयोग करते हुए उत्पादन में वृद्धि तथा समुदायों की सेवा में रोजगार के लिए सभी को मौका देते हुए लोगों के रहन-सहन के स्तर में तेजी से विकास करना था। योजना आयोग को देश के सभी संसाधनों का आकलन करने, कमी वाले संसाधनों में वृद्धि करने, संसाधनों का बेहतरीन रूप से प्रभावी तथा संतुलित उपयोग की योजनाएं बनाने तथा प्राथमिकताएं तय करने की जिम्मेदारी सौंपी गई। पिछले पचास सालों में भारत की विकास नीति का विकास निरंतरता के साथ परिवर्तन की एक बेजोड़ मिसाल है - हालांकि इसके अंतर्निहित लक्ष्य में कोई बदलाव नहीं किया गया फिर भी उभरती हुई स्थितियों के अनुसार प्रत्येक योजना का मुख्य जोर बदलता रहा। पहली तीन पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान भारत के विकास की प्रक्रिया के निम्नलिखित तीन तत्व थे। (क) अर्थव्यवस्था का

आधुनिकीकरण, (ख) आत्मनिर्भरता तथा (ग) समाजवाद या सही ढंग से कहा जाय तो समानता तथा सामाजिक न्याय पर आधारित समाजवादी व्यवस्था का समाज। अगले दो दशकों तक नीतियों को अर्थव्यवस्था की वास्तविक परिस्थितियों के अनुसार ढाला गया। पहली आठ पंचवर्षीय योजनाओं का मुख्य जोर बुनियादी एवं भारी उद्योगों में भारी-भरकम निवेश के साथ बढ़ते हुए सार्वजनिक क्षेत्र पर था। सार्वजनिक नीति की प्रमुख विशेषताओं में शामिल थी - लाइसेंसीकरण के द्वारा प्रत्येक कंपनी के परिचालनों की मात्रा को नियंत्रित किया गया; लघु उद्योगों को बढ़ावा देने के लिए आरक्षण तथा प्रोत्साहन की व्यवस्था की गई; कड़े श्रम कानूनों के कारण भारी उपक्रम बाधित हुए और केंद्रीकरण के विरुद्ध बचाव का अंतिम अस्त्र एमआरटीपी अधिनियम था। संक्षेप में, निजी पहल तथा विकास उस सीमा तक अवरुद्ध रहे यद्यपि यह स्वीकार करना पड़ेगा कि औद्योगिक आधार तथा ज्ञानाश्रयी संस्थाओं की मजबूत नींव बन जाने के कारण ही 90 के दशक से उल्लेखनीय विकास संभव हुआ। वर्ष 1997 में नौवीं योजना के श्रीगणेश के समय से ही सार्वजनिक क्षेत्र पर बल देने की प्रक्रिया मंद पड़ गई और आम तौर पर इस समय देश की आयोजना का चिंतन यह है कि इसे अधिक से अधिक सांकेतिक प्रकृति का होना चाहिए।

II 1990 के दशक का आर्थिक सुधार

1990 के दशक के आर्थिक सुधारों में ये बातें शामिल थीं - महत्वपूर्ण औद्योगिक एवं व्यापारिक उदारीकरण; वित्तीय विनियंत्रण; पर्यवेक्षी तथा विनियामक पद्धतियों में सुधार; तथा निजीकरण एवं प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के अधिक अनुकूल नीतियां। सुधारों के क्षेत्र में की गई प्रमुख पहलों में से एक औद्योगिक तथा व्यापारिक नीति के क्षेत्र से जुड़ी थी।

औद्योगिक सुधार

उदारीकरण से पहले की औद्योगिक नीति में निजी निवेश पर ढेर सारी बंदिशें लगाई गई थीं जिनमें निवेश के लिए अनुमत क्षेत्रों, परिचालनों की मात्रा, नए निवेश के स्थान तथा यहां तक कि प्रयोग में लाई जाने वाली प्रौद्योगिकी जैसे विषय शामिल थे। इसके परिणामस्वरूप भारत का औद्योगिक ढांचा अत्यधिक अक्षम हो गया था जैसा कि तमाम अनुभवात्मक अध्ययनों के दस्तावेज में दर्ज है। इस अक्षम औद्योगिक ढांचे को बचाने के लिए व्यापार नीति के लिए यह जरूरी हो गया था कि उसे प्रतिबंधात्मक तथा रक्षात्मक बनाया जाए। इन प्रतिबंधात्मक नीतियों के चलते अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले समस्त खर्चों को ध्यान में रखते हुए अर्थशास्त्रियों एवं नीति निर्माताओं के बीच औद्योगिक क्षेत्र में सुधारों की जरूरत को लेकर लगभग आम सहमति थी।

सुधारों के पूर्व तकरीबन 18 उद्योगों का संचालन सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आरक्षित था। पिछले कुछ समय में उद्योगों की इस सूची को घटाकर छोटा कर दिया गया है और इस समय केवल तीन उद्योग - रक्षा वायुयान एवं युद्धपोत, परमाणु ऊर्जा उत्पादन तथा रेल यातायात - सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आरक्षित रखे गए हैं। सुधारों का एक प्रमुख क्षेत्र औद्योगिक लाइसेंसीकरण था। इस समय केंद्र सरकार द्वारा औद्योगिक लाइसेंसीकरण केवल कुछ जोखिमपूर्व एवं पर्यावरण की दृष्टि से संवेदनशील क्षेत्रों तक ही सीमित है। एमआरटीपी अधिनियम को शिथिल कर दिया गया हैं। लघु औद्योगिक क्षेत्र द्वारा उत्पादन के लिए आरक्षित मदों की सूची में काफी काट-छांट की गई है। आरक्षण सूची से जिन अत्यंत महत्वपूर्ण मदों को हटाया गया है उनमें अत्यधिक निर्यात आधारित मदें - वस्त्र, जूते, खिलौने तथा ऑटोमोबाइल कलपुर्जे आदि शामिल हैं।

व्यापार तथा निवेश संबंधी सुधार

सुधारों से पहले ऊंचा प्रशुल्क तथा आयात संबंधी व्यापक प्रतिबंध व्यापार नीति की विशेषता थी। विनिर्मित वस्तुओं के आयात को पूर्णतः प्रतिबंधित कर दिया गया था। पूंजीगत वस्तुओं, कच्ची सामग्री तथा मध्यवर्ती वस्तुओं के आयात के मामले में जहां उनके देशी विकल्प मौजूद थे लाइसेंस आवश्यक बना दिया गया था। जैसा कि पहले ही बताया गया है, इसके चलते आयात न केवल कठिन तथा समयखपाऊ हो गया था बल्कि इसकी परिणति अक्षम औद्योगिक उत्पादन में हुई। व्यापार नीति में सुधारों का लक्ष्य क्रमिक रूप से आयात लाइसेंस को हटाना तथा आयात शुल्क को तर्कसंगत बनाना था। पूंजीगत वस्तुओं तथा मध्यवर्ती वस्तुओं के लिए आयात लाइसेंस की अनिवार्यता को 1993 में शिथिल बना दिया गया था। विनिर्मित उपभोक्ता वस्तुओं तथा कृषि उत्पादों के आयात पर लगे प्रतिबंधों को हटाने की प्रक्रिया अधिक लंबी थी क्योंकि इस परिवर्तन से प्रभावित होने वाले घरेलू उत्पादकों की संख्या बहुत अधिक थी। विनिर्मित उपभोक्ता वस्तुओं के आयात पर मात्रात्मक प्रतिबंधों को अंततः 2001 में हटा दिया गया था।

वर्ष 1991 से पहले भारत में विदेशी प्रत्यक्ष निवेश पर तमाम प्रतिबंध थे जिससे विदेशी संस्थाओं के लिए भारत में कामकाज करना अथवा भारतीय कंपनियों के साथ मिलकर काम करना प्रायः असंभव था। इस बात पर सहमति काफी बढ़ रही थी कि इस क्षेत्र में उदारीकरण की जरूरत है ताकि प्रतिस्पर्धा की शुरुआत करते हुए अर्थव्यवस्था में निवेश की कुल मात्रा में वृद्धि, उत्पादन प्रौद्योगिकी में सुधार, विश्व बाजार तक पहुंच में वृद्धि और घरेलू उत्पादन की प्रक्रियाओं की दक्षता में वृद्धि की जा सके। इस दिशा में सुधारों के कारण कुछ अपवादों को छोड़कर अनेक उद्योगों में अब 100 प्रतिशत/अधिकांश विदेशी स्वामित्व का रास्ता खोल दिया गया है। ऐसे उद्योगों को सूचीबद्ध करके लाइसेंस हासिल करने की प्रक्रिया को काफी सरल बना दिया गया जो विदेशी इक्विटी (100 प्रतिशत, 74 प्रतिशत एवं 51 प्रतिशत) के निर्धारित स्तर तक स्वतः अनुमोदन के पात्र हैं। अपेक्षित अनुमति पाने के लिए विदेशी निवेशकों के लिए सिर्फ इतना जरूरी है कि वे भारतीय रिज़र्व बैंक में अपना पंजीकरण करा लें। स्वतः अनुमोदित सूची में शामिल क्षेत्रों से इतर क्षेत्रों में विदेशी प्रत्यक्ष निवेश तथा स्वतः अनुमत निवेश प्रस्तावों से अधिक के मामलों में संबंधित पक्षों के लिए विदेशी निवेश संवर्द्धन बोर्ड के माध्यम से प्रक्रिया शुरू करना आवश्यक है। वर्ष 1993 से विदेशी संस्थागत निवेशकों (एफआइआइ) को भारतीय इक्विटी में निवेश करने की अनुमति दी गई है और वर्तमान में एफआइआइ एक श्रेणी के रूप में भारतीय शेयर बाजारों के प्रमुख खिलाड़ी बन गए हैं। व्यापार तथा औद्योगिक नीति में सुधारों का भारत के औद्योगिक क्षेत्र पर गहरा असर पड़ा है। भारतीय कंपनियां पहले से अधिक सक्षम हो गईं हैं जिसका श्रेय प्रतिस्पर्धा से उत्पन्न दबावों को जाता है। घरेलू खिलाड़ियों को उन्नत प्रौद्योगिकी का लाभ मिला और प्रतिस्पर्धा के दबाव में टिके रहने के लिए उन्होंने अपने उत्पादन के स्तर को अधिक सक्षम बनाया। तमाम घरेलू खिलाड़ियों को विलय तथा अधिग्रहण के माध्यम से अपनी कारोबारी गतिविधियों के ढांचे में बदलाव भी करना पड़ा। दूसरी कंपनियों ने प्रमुख दक्षता के अपने क्षेत्रों पर जोर देने के लिए अपनी व्यावसायिक रणनीतियों को फिर से केंद्र में रखा।

आधारभूत संरचना में सुधार

अर्थव्यवस्था की तीव्र वृद्धि को तभी स्थायी बनाया जा सकता है जब आधारभूत ढांचे के स्तर पर कोई अवरोध न हो। दरअसल, बिजली तथा दूरसंचार, जल, सड़क, रेलवे तथा हवाई यातायात के जरिए जुड़ाव

किसी उभरती हुई अर्थव्यवस्था का मेरूदंड होता है। राज्य सरकारों ने स्वतंत्र सांविधिक रेगुलेटरों की स्थापना करके कुछ पहल की है जिनसे अपेक्षा है कि वे प्रशुल्कों को एक ऐसे स्तर पर निर्धारित करेंगे जो उपभोक्ताओं तथा उत्पादकों दोनों के लिए उचित होगा। कुछ राज्यों ने बिजली के वितरण के निजीकरण को भी प्रभावी कर दिया है यद्यपि इन सुधारों को लागू करने के खिलाफ कुछ विरोध भी हुआ है। तुलनात्मक रूप से दूरसंचार के क्षेत्र में भारत का कार्यनिष्पादन काफी बेहतर रहा है। फिक्सड लाइन तथा सेलुलर सेवाओं के क्षेत्र में निजी क्षेत्र के तमाम सेवा प्रदाता काम कर रहे हैं। इसके परिणामस्वरूप, कुछ वर्षों में दूरसंचार साधनों में काफी सुधार हुआ है और नए कनेक्शन पाने के लिए प्रतीक्षा समय में काफी कमी आई है। इसका सबसे उल्लेखनीय प्रभाव लंबी दूरी के प्रभारों पर पड़ा है जिसमें काफी कमी आई है। नागर विमानन के मामले में निजी एअरलाइनों के प्रवेश से इस क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा बढ़ गई है और इसके फलस्वरूप इस पूरे क्षेत्र में प्रशुल्क दरों में कमी हुई है। जहां सड़क यातायात के क्षेत्र में कुछ उल्लेखनीय पहल किए गए हैं वहीं हाल के वर्षों में रेलवे में परिवर्तनों को पंख लग गए हैं। इसके प्रशुल्कों को तर्कसंगत बना दिया गया है तथा राजस्व अर्जित करने के नए क्षेत्रों की व्यापक रूप से तलाश की जा रही है।

कृषि सुधार

औद्योगिक नीति तथा व्यापार नीति की तुलना में देखा जाए तो कृषि क्षेत्र में सुधारों की गति धीमी रही। कुछ अर्थशास्त्रियों का सुझाव है कि सुधारों की प्रक्रिया का परोक्ष रूप से लाभ कृषि क्षेत्र को मिला है क्योंकि उद्योगों को संरक्षण में कमी तथा उसके साथ विनिमय दर में होने वाली गिरावट के कारण तुलनात्मक रूप से कीमतों का झुकाव कृषि तथा कृषि निर्यातों की तरफ हुआ। सरकार ने आयोजना तथा कार्यान्वयन के व्यापक प्रबंधन के तौर-तरीके के अंतर्गत क्षेत्रों के आधार पर अलग-अलग रणनीतियों के जरिए कृषि उत्पादकता में सुधार लाने के प्रयासों को तेज किया। यह व्यवस्था अक्तूबर 2000 में शुरू की गई थी जिसके अंतर्गत केंद्र सरकार द्वारा प्रायोजित पहले की सभी योजनाओं को शामिल कर लिया गया था। इसके बावजूद कृषि क्षेत्र में गिरावट हुई क्योंकि सिंचाई, मृदा संरक्षण, जल प्रबंधन तथा ग्रामीण सड़क जैसे क्षेत्रों में सार्वजनिक निवेश में कमी हुई थी जो कृषि के विकास में निर्णायक होते हैं। कुछ अध्ययनों से यह सुझाव आए हैं कि सार्वजनिक क्षेत्र में यह सार्वजनिक निवेश की कमी कृषि क्षेत्र में हुए निजी निवेश से होने वाली भरपाई से अधिक थी। तथापि, यह तथ्य अपनी जगह कायम है कि ऐसी पहल केवल सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा ही की जा सकती है जो विकास की प्रक्रिया को शुरू कर सकती हैं। इस प्रकार कृषि क्षेत्र में काफी कुछ किया जाना बाकी है।

वित्तीय क्षेत्र के सुधार

वित्तीय क्षेत्र के सुधार जो वास्तविक क्षेत्र के सुधारों के महत्वपूर्ण संस्थागत मुख्याधार थे, उनमें भी काफी प्रगति हुई है। एक आधुनिक तथा कारगर वित्तीय प्रणाली न केवल निजी बचत का अनुकूल वातावरण पैदा करने बल्कि यह सुनिश्चित करने के लिए भी जरूरी है कि बचत का इस्तेमाल सबसे अधिक उत्पादक निवेश अवसरों के लिए किया जा रहा है। वित्तीय क्षेत्र के सुधारों का मुख्य उद्देश्य संसाधनों के आबंटन की क्षमता में सुधार करना, वित्तीय स्थिरता सुनिश्चित करना तथा वित्तीय प्रणाली की सुदृढ़ता एवं सक्षमता बढ़ाकर उसमें आत्मविश्वास बनाए रखना था। इसी के साथ वित्तीय बाजारों के तमाम क्षेत्रों में भी सुधार किए गए थे ताकि बैंकिंग क्षेत्र मध्यस्थ के रूप में अपनी भूमिका को कारगर तरीके से निभा सके। सुधार के उपायों को परस्पर एक-

दूसरे को मजबूती प्रदान करने वाला बनाने के लिए इस सुधार प्रक्रिया को विभिन्न समितियों / कार्यसमूहों के विश्लेषण तथा उनकी सिफारिशों और विशेषज्ञों तथा बाजार के प्रतिभागियों के साथ व्यापक विचार-विमर्श के माध्यम से आगे बढ़ाया गया। इन सुधारों की विशेषताओं में से एक विशेषता यह थी कि उनका अनुक्रम उपकरणों एवं उद्देश्यों के अनुसार सावधानीपूर्वक निर्धारित किया गया था। इस प्रकार सुधार चक्र प्रारंभ करते हुए उसके साथ विवेकपूर्ण मानदंडों को जोड़ दिया गया था और उसके बाद ब्याज दर पर से नियंत्रण हटाया गया तथा सांविधिक पूर्वापेक्षाओं को कम किया गया। सुधारों के बुनियादी स्तंभ स्थापित हो जाने के बाद वैधानिक तथा लेखाकरण के उपायों के अधिक जटिल उपायों को शुरू किया गया। जहां सुधारों की पहली पीढ़ी का मुख्य केंद्र एक सक्षम, उत्पादक तथा फायदेमंद वित्तीय सेवा उद्योग की शुरुआत करना था वहीं 1990 के दशक की दूसरी छमाही से शुरू होने वाले वित्तीय क्षेत्र के सुधारों के दूसरे चरण का उद्देश्य वित्तीय प्रणाली को मजबूत बनाना तथा संरचनात्मक सुधार लाना था।

बढ़ते हुए वैश्वीकृत परिवेश में वित्तीय प्रणाली को ढालने तथा घरेलू एवं बाहरी झटकों से बचाने के लिए वित्तीय स्थिरता को बढ़ाने की आवश्यकता सुधारों के एजेंडा में शीर्ष पर था। भारतीय अर्थव्यवस्था के बढ़ते हुए वैश्वीकरण के साथ-साथ सुधारों की प्रक्रिया में अनेक महत्वपूर्ण क्षेत्रों जैसे विवेकपूर्ण मानदंड, बैंकिंग पर्यवेक्षण, आंकड़ों का वितरण तथा कारपोरेट गवर्नेंस में सर्वश्रेष्ठ अंतरराष्ट्रीय प्रथाओं को अपनाए जाने की दिशा में उल्लेखनीय बदलाव हुआ। वित्तीय क्षेत्र में हमारी अपनी परिस्थितियों के अनुकूल समय एवं पुनर्निर्धारण के हिसाब से समुचित वैश्विक प्रथा समझी जाने वाली प्रथाओं के साथ जोड़ने के लिए अभीष्ट सुधारों के दायरे में वास्तविक क्षेत्र में जिस स्थिति एवं विकास को अनिवार्यतः रखना चाहिए वे विशेष रूप से लचीलापन, राजकोषीय सुदृढ़ता तथा संपूर्ण गवर्नेंस संबंधी मानक हैं।

बैंकिंग क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा बढ़ाने के लिए निजी क्षेत्र के नए बैंकों को लाइसेंस दिया गया था। लाइसेंस मंजूर किए जाने के लिए पूर्व शर्त थी कि इन बैंकों को पहले दिन से ही पूरी तरह स्वचालित होना चाहिए। परिणाम स्वत: स्पष्ट हैं क्योंकि ये बैंक उच्च-तकनीक बैंक हो गए हैं। इसका समूची प्रणाली पर प्रेरणादायी प्रभाव पड़ा है। राष्ट्रीयकृत बैंकों तथा भारतीय स्टेट बैंक को अपनी चुकता पूंजी के 49/45 प्रतिशत तक इक्विटी बाजार से पूंजी जुटाने की अनुमति देकर उनमें सरकार के स्वामित्व को कम कर दिया गया था। सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों, भारतीय बैंकिंग क्षेत्र में जिनकी प्रमुख उपस्थिति है, में सुधार की एक विशेषता वित्तीय क्षेत्र की पुनर्संरचना की प्रक्रिया थी। विवेकपूर्ण मानदंडों को पूरा करने के लिए पुनर्पूंजीकरण बांडों के माध्यम से सरकार द्वारा बैंकों को पुनःपूंजी प्रदान की गई थी। नैतिक संकट को ध्यान में रखते हुए अशोध्य ऋणों को अलग कर किसी दूसरी सरकारी आस्ति प्रबंधन कंपनी को देने की प्रणाली को उपयुक्त नहीं समझा गया था। अनर्जक ऋणों की आसन्न समस्या का समाधान किया जाना था। सार्वजनिक प्रस्ताव के जरिए इक्विटी को घटाया गया तथा निजी शेयरधारकों को प्रस्ताव दिया गया, न कि रणनीतिक निवेशकों को बिक्री के द्वारा ऑफर के माध्यम से। इसके परिणामस्वरूप सार्वजनिक क्षेत्र के सभी बैंकों को एक्सचेंजों में सूचीबद्ध कर लिया गया है जिन्होंने निजी शेयरधारकों को शेयर जारी किए हैं और ये बैंक प्रकटन तथा बाजार अनुशासन के उन

सभी मानकों के अधीन होंगे जो दूसरी सूचीबद्ध संस्थाओं पर लागू होते हैं। बैंकों को अपना दायरा बढ़ाकर वित्तीय सेवाओं के तमाम क्षेत्रों में फैलाने की अनुमति दी गई और अब वे वैश्विक बैंकों की तरह वित्तीय उत्पादों की एक पूर्ण श्रृंखला प्रस्तुत कर रहे हैं।

संस्थागत व्यवस्थाओं में सुधार के लिए भी सक्रिय कदम उठाए गए जिसमें कानूनी ढांचा तथा प्रौद्योगिकीय प्रणाली शामिल थे जिन्हें मिलाकर वित्तीय पर्यावरण कहा जाता है। भारी पैमाने पर अनर्जक आस्तियों से जुड़े मुद्दे को हल करने के लिए बैंकों तथा वित्तीय संस्थाओं के बकाया ऋणों की वसूली संबंधी अधिनियम, 1993 पारित होने के बाद ऋण वसूली न्यायाधिकरणों (डीआरटी) की स्थापना की गई। बैंकों की वसूली को लगातार सुदृढ़ बनाये रखना सुनिश्चित करने के लिए उन्हें प्रोत्साहन प्रदान करने हेतु वित्तीय आस्ति प्रतिभूतिकरण तथा पुनर्गठन और प्रतिभूति हित प्रवर्तन अधिनियम, 2002 पारित किया गया। हालांकि सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों की अनर्जक आस्तियों को पृथक आस्ति प्रबंधन कंपनियों को अंतरण पर विचार नहीं किया गया फिर भी बैंकों तथा वित्तीय संस्थाओं की संकटग्रस्त आस्तियों का प्रबंधन करने के लिए एक संस्थागत व्यवस्था बनाई गई है। आस्ति पुनर्निर्माण कंपनियों (एआरसी) की स्थापना को अनुमति दी गई है जो निजी क्षेत्र में हैं और वे किसी वित्तीय संस्था से अनर्जक आस्तियों का अधिग्रहण करने तथा एक निश्चित समय सीमा के भीतर उनका पुनर्गठन, तथा पुनर्वास या परिसमापन करने वाली स्वतंत्र वाणिज्यिक संस्थाओं के रूप में कार्य करती हैं। इससे भारत में संकटग्रस्त आस्तियों का एक बाजार खुल गया है।

सरकारी प्रतिभूति, मुद्रा और विदेशी मुद्रा बाजारों का किसी उभरती हुई बाजार अर्थव्यवस्था की सार्वजनिक नीति पर खासा प्रभाव पड़ता है। सुधार के दौरान इनमें प्रतिभागियों तथा उपकरणों के मामले में आकर्षक रूप से बहुविध विकास हुआ।

भुगतान और निपटान प्रणाली की सुगम कार्यप्रणाली वित्तीय स्थिरता की पूर्वशर्त होती है। आरटीजीएस प्रणाली की शुरुआत तथा भारतीय समाशोधन निगम लिमिटेड (सीसीआईएल) की स्थापना जो प्रतिभूतियों एवं विदेशी मुद्रा लेनदेन के लिए केंद्रीय प्रतिपक्षकार के रूप में कार्य करते हैं और लेनदेन की प्रतिभूति तथा निधि संबंधी दोनों पक्षों की गारंटी देते हैं, से भुगतान प्रणाली की क्षमता और स्थिरता में वृद्धि हुई है।

घरेलू तथा वैश्विक व्यापार वातावरण, विवेकपूर्ण प्रथाओं की स्थापना, विनियामक एवं पर्यवेक्षी ढांचे के स्तरोन्नयन, समुचित संस्थागत तथा कानूनी सुधारों की व्यवस्था तथा अर्थव्यवस्था में खुलेपन की स्थिति के आधार पर सुधारों की दिशा में प्राथमिकताओं को लगातार पुनः संतुलित किया जाता रहा है। पुनरावलोकन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि 90 के दशक के प्रारंभ में वित्तीय क्षेत्र के सुधार शुरू किए जाने के बाद इस क्षेत्र की मुख्य सफलता ऐसे दौर में वित्तीय स्थिरता बनाए रखने में दिखाई दी जब दुनिया भर में एक के बाद एक वित्तीय संकटों का सिलसिला जारी था। सुधारों की प्रक्रिया केवल इसलिए उल्लेखनीय नहीं हैं कि उसके रास्ते में कोई विघ्न-बाधा नहीं आई बल्कि इसलिए भी कि उसके प्रारंभ से अब तक परिवर्तन के नए आयाम सृजित हुए।

III 1990 के दशक के आर्थिक सुधारों का प्रभाव

अर्थव्यवस्था के तमाम क्षेत्रों में जो परिवर्तन शुरू किए गए उनसे विकास की गति तीव्र हुई। 90 के दशक से आकर्षक विकास की गति जैसा कि पहले बताया

गया है, घरेलू औद्योगिक आधार की मजबूत आधारशिला, घरेलू उद्यमी वर्ग, ज्ञान को बढ़ावा देने वाली संस्थाओं तथा 1960 से 1990 के दशकों के दौरान ऊर्ध्वाधर सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति में सुधारों के कारण संभव हुई। आर्थिक विकास का हाल का फायदा केवल बाजारीकरण का करिश्मा नहीं है, बल्कि वह आजादी के समय से दशकों में मनोयोग से किए गए राष्ट्र निर्माण पर आधारित है और वह इस दौरान अन्य बातों के साथ-साथ संस्थाओं के निर्माण तथा उनकी सेवा प्रदायी क्षमताओं में सुधार के प्रति भारतीय रिज़र्व बैंक के मैनडेट का विस्तार है। इस दिशा में कुछ प्रमुख उपलब्धियां इस प्रकार रही हैं :

i) वार्षिक वास्तविक सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) में वृद्धि दर 90 के दशक में 5.7 प्रतिशत और 2000-01 से 2006-07 की अवधि के दौरान 6.9 प्रतिशत रही। हाल के वर्षों में सकल घरेलू उत्पाद की ऊंची वृद्धि दर हासिल करने के पीछे औद्योगिक एवं सेवा के क्षेत्रों की अग्रणी भूमिका रही है।

ii) गरीबी में काफी कमी आई है। एक अनुमान से गरीबी दर वर्ष 1993-94 के 37 प्रतिशत से गिरकर वर्ष 2004-05 के दौरान 28 प्रतिशत हो गई जिससे तीव्र विकास तथा गरीबी में कमी के बीच एक संबंध स्थापित होता है। इस अवधि के दौरान आय में विषमता के आंकड़ों में भी गिरावट आई।

iii) पिछले दो दशकों में अन्य सामाजिक संकेतकों में भी इसी प्रकार सुधार परिलक्षित हुए हैं : जीवन की संभाव्यता 1980 के 53 वर्ष से बढ़कर 1999-2003 के दौरान 63 वर्ष हो गई, शिशु मृत्यु दर 1981 के 110 से घटकर 2005 में प्रति हजार शिशु जन्म में 58 हो गई, तथा साक्षरता 1981 के 44 से बढ़कर 2001 में 65 हो गई।

iv) बाह्य क्षेत्रों में भी हमारी स्थिति मजबूत हुई है: 1991 के भुगतान संतुलन के संकट के बाद हमारे आधिकारिक (विदेशी मुद्रा) भंडार में लगातार वृद्धि हुई है तथा इस समय (11 जनवरी 2008 की स्थिति के अनुसार) यह 282 बिलियन अमरीकी डॉलर के आसपास है। हालांकि चालू खाता घाटा कम ही बना रहा जो 90 के दशक की शुरुआत से औसतन जीडीपी का 1प्रतिशत रहा, इस दौरान वैश्विक अर्थव्यवस्था के साथ भारतीय अर्थव्यवस्था के साथ जुड़ाव में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। इसे चालू प्राप्तियों में लगातार वृद्धि में देखा जा सकता है - इस दौरान जीडीपी अनुपात 1990-91 के लगभग 8 प्रतिशत से बढ़कर 2006-07 के दौरान 27 प्रतिशत हो गया। इसी अवधि के दौरान चालू प्राप्तियों तथा चालू भुगतान का संयुक्त प्रतिशत 19 से बढ़कर 54 प्रतिशत हो गया। वर्ष 2006-07 के दौरान सकल पूंजी अंतर्प्रवाह तथा बहिर्प्रवाह 1990-91 के जीडीपी के केवल 12 प्रतिशत के मुकाबले 46 प्रतिशत था।

v) बाह्य ऋण घटकर जीडीपी का लगभग 18 प्रतिशत हो गया।

vi) यह दर्ज करना महत्वपूर्ण है कि भारत के विकास में न केवल लगातार ऊंची वृद्धि हुई है बल्कि इसके साथ-साथ स्थायी स्थिरता भी आई है। भारत की प्रगति के साथ जुड़े अनुभव की एक खास विशेषता उसकी वैश्विक एवं घरेलू दोनों प्रकार के झटकों के प्रति लचीलापन रही है।

vii) राजकोषीय उत्तरदायित्व और बजट प्रबंधन (एफआरबीएम) के माध्यम से राजकोषीय सुधार

एक अहम प्रयास है। समग्रतः केंद्र तथा राज्य दोनों को अपने दायरे में लानेवाली राजकोषीय सुधार प्रक्रिया की परिधि व्यापक रही है जिनमें से कुछ महत्वपूर्ण सुधार इस प्रकार हैं : लोक ऋण के प्रबंधन की अद्वितीय विशेषताएं जो स्थिरता को प्रभावित करती हैं - बाह्य ऋण सीधे राज्यों को नहीं उपलब्ध होते और लगभग समस्त लोक ऋण घरेलू मुद्रा में है और वह ऋण ज्यादातार नागरिकों द्वारा धारित है; (ii) 1 अप्रैल 2006 से भारतीय रिज़र्व बैंक प्राथमिक निर्गम नहीं खरीद सकता जिनसे राजकोषीय नीति की बढ़ती अपेक्षाओं के खामियाजों से मौद्रिक नीति को सुरक्षा प्रदान की जा सकती है।

तथापि, सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों में सुधार करने, कृषि उत्पादकता तथा कार्यक्षमता में सुधार लाने, सार्वजनिक आधारभूत संरचना को वित्तपोषित करने, गरीबी कम करने, शिक्षा तथा पर्यावरण तक पहुंच को विस्तारित करने आदि से जुड़ी ढेर सारी चुनौतियां हैं। भारत के संदर्भ में केंद्रीय बैंकिंग के परिप्रेक्ष्य में सार्वजनिक नीति के सामने मुख्य चुनौती उच्च वृद्धि के दौर में प्रवेश के साथ-साथ निम्न एवं स्थिर मुद्रास्फीति कायम रखना तथा मुद्रास्फीति अपेक्षा को सुस्थिर रखना है। भारतीय वित्तीय व्यवस्था के सामने सबसे बड़ी चुनौती यह है कि वह अपने को कैसे विस्तार दे तथा वित्तीय समावेशन की नई मांगों को पूरा करने और नए अवसरों एवं जोखिमों से मुकाबला करने के लिए किस प्रकार नवोन्मेष करे। ऋण संबंधी नई-नई जरूरतों को पूरा करने के लिए शायद सूचना प्रौद्योगिकी के ज्यादा-से-ज्यादा इस्तेमाल एवं मानव पूंजी में दक्षता विकास को तेज करने के साथ ऋण प्रदायगी के नवोन्मेषी चैनलों का विकास करना होगा। घरेलू बैंकिंग प्रणाली में ठोस सुधारों के बावजूद बढ़ती हुई बाह्य प्रतियोगिता तथा वित्तीय क्षेत्र की नवीन उपलब्धियों तथा पूर्णतर पूंजी खाता परिवर्तनीयता की शुरुआत का सामना करने के लिए इसे आगे और मजबूत करने की जरूरत है। इसके लिए तमाम क्षेत्रों में कार्रवाई करने की आवश्यकता होगी जैसे प्रतिस्पर्धा के ऊंचे स्तर की शुरुआत, गतिविधियों तथा वित्तीय समूहों के पर्यवेक्षण में समन्वय, नई प्रौद्योगिकी का समावेश; ऋण जोखिम मूल्यांकन में सुधार; वित्तीय क्षेत्र में नए परिवर्तनों को प्रोत्साहन तथा आंतरिक नियंत्रणों में सुधार। इस संदर्भ में रिज़र्व बैंक की भूमिका बैंकिंग प्रणाली को प्रतिस्पर्धी तथा नवोन्मेषी बनाने के साथ सुरक्षा एवं मजबूती को प्रोत्साहित करने की है। बांडों, मुद्रा तथा डेरिवेटिवों के लिए काफी सघन तथा तरल बाजार की सुसंचालित व्यवस्था मौजूद है। तथापि, संप्रेषण व्यवस्था की सक्षमता में सुधार, कार्पोरेट ऋण बाजार तथा एक्सचेंज में ट्रेडिंगवाले ब्याज दर फ्यूचर्स के विकास के साथ आगे और कार्य करने की जरूरत है। रिज़र्व बैंक ने मुद्रा फ्यूचर्स तथा क्रेडिट डेरिवेटिव पर दिशानिर्देशों का प्रारूप पहले ही पब्लिक डोमेन में रख दिया है। कुल मिलाकर ऋण विस्तार तथा वैश्विक एकीकरण में संभावित वृद्धि को देखते हुए मूल्य स्थिरता तथा वित्तीय स्थिरता मुख्य चुनौती बनी रहेगी।

भारत के सामाजिक सूचक 1991 के आर्थिक सुधारों के प्रारंभ में दक्षिण पूर्व एशिया के सामाजिक सूचकों के स्तर से लगभग 20 वर्ष पीछे थे जब ये देश तेजी से अपना विकास प्रारंभ करने लगे थे (ड्रेज एंड सेन, 1995)। एक तरफ जहां सुधार प्रक्रिया के साथ ही अर्थव्यवस्था के अन्य सभी क्षेत्रों में निजीकरण की शुरुआत की गई थी वहीं दूसरी तरफ यह बात समझ में आने लगी थी कि सामाजिक क्षेत्र में सुधार लाने के लिए सरकार की तरफ से मजबूत पहलकदमी आवश्यक है। जहां जीडीपी के प्रतिशत के रूप में सामाजिक क्षेत्र पर केंद्र सरकार के व्यय में, अपवादस्वरूप कुछ सालों को छोड़कर, सुधारोत्तर

अवधि में बढ़ती हुई प्रवृत्ति प्रदर्शित होती है वहीं सामाजिक क्षेत्र में राज्य सरकारों का व्यय कम हुआ है। कुल मिलाकर केंद्रीय तथा राज्य सरकारों के द्वारा सामाजिक क्षेत्र पर किए गए व्यय को एक साथ रखकर देखा जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि यह व्यय न्यूनाधिक मात्रा में स्थिर बना रहा है। इस प्रकार सुधारों के बाद के दौर में जहां सामाजिक सूचकों में कुछ सुधार हुआ है वहीं इन सुधारों को आर्थिक वृद्धि के परोक्ष प्रभाव के साथ न कि किसी निर्देशित प्रयास से जोड़ा जा सकता है। इस बात पर लगभग आम सहमति है कि इस दिशा में चुनौतियां भारी-भरकम हैं। वर्ष 2006 के लिए यूएनडीपी की ग्लोबल ह्यूमन डेवलपमेंट रिपोर्ट (एचडीआर) में भारत 177 देशों की सूची में 126 वें पायदान पर है जोकि वर्ष 2000 की तुलना में दो पायदान नीचे है। सामाजिक क्षेत्रों में व्यय की प्राथमिकताओं को फिर से निर्धारित करना और सार्वजनिक सेवा प्रदायगी में सुधार आवश्यक है। गुणवत्ता को केंद्र में रखते हुए सामाजिक सेवाओं पर उच्चतर सरकारी व्यय से सामाजिक आधारभूत ढांचे में सुधार होगा तथा उससे उत्पादकता के स्तर पर लाभ होंगे। विकास की मौजूदा गति को स्थायी रूप देने के लिए क्षमता निर्माण तथा सार्वजनिक सेवाओं की उपलब्धता में महत्वपूर्ण रूप से वृद्धि करने की जरूरत है जिन्हें निजी क्षेत्र द्वारा पर्याप्त रूप से पूरा नहीं किया जा सकता। राजकोषीय सुदृढ़ता के फलस्वरूप आधारभूत ढांचे को मजबूत करने तथा सामाजिक क्षेत्र पर व्यय के लिए अधिक परिव्यय संभव होगा जिसका घरेलू उत्पादकता, विकास तथा रोजगार पर फायदेमंद प्रभाव पड़ेगा।

राज्य सरकारें

इस बात का प्रमाण है कि भारत में गरीबी, पिछड़ेपन, तथा मानवीय विकास के निम्न स्तर के समाधान के लिए धन की उपलब्धता आवश्यक तो है लेकिन वह पर्याप्त नहीं है। विकास कार्यक्रमों के सफल कार्यान्वयन के लिए यह भी जरूरी है कि धन मुहैया कराने वाले मंत्रालय/राज्य सरकारें यथोचित नीति बनाएं, यथोचित योजना कार्यक्रम बनाएं और प्रभावी प्रदायगी मशीनरी तैयार करें। भारत में राज्य सरकारें स्वास्थ्य एवं शिक्षा जैसी सामाजिक सेवाओं तथा दूरसंचार, नागरिक उड्डयन, रेल और प्रमुख बंदरगाहों को छोड़कर अधिकांश आधारभूत ढांचे से जुड़ी सेवाओं के प्रावधान पर अधिकांश सरकारी व्यय के लिए जिम्मेदार हैं। वे कानून एवं व्यवस्था के लिए भी जिम्मेदार हैं। इस प्रकार सामाजिक सेवाओं तथा आधारभूत ढांचे पर व्यय करने के मामले में राज्यों की क्षमता का संपूर्ण आर्थिक विकास पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

जैसा कि विस्तारपूर्वक दर्ज है, 1990-95 की अवधि के मुकाबले 90 के दशक के उत्तरार्ध में राज्यों के विकासात्मक व्यय में आई गिरावट से राज्यों की राजकोषीय स्थिति में गिरावट झलकती थी जिसका राज्यों द्वारा शिक्षा एवं स्वास्थ्य सहित दूसरे सामाजिक क्षेत्रों में किए जाने वाले व्यय पर विपरीत प्रभाव पड़ा। हाल के समय में राजकोषीय सुधार तथा सुदृढ़ीकरण की दिशा में राज्यों द्वारा की गई सक्रिय पहल के फलस्वरूप विकासात्मक व्यय तथा सामाजिक व्यय की प्रवृत्ति में बदलाव हुआ है। राज्य सरकारों ने मानव संसाधन विकास की गुणवत्ता में सुधार का स्तर सुनिश्चित करने के लिए 2007-08 के अपने बजट में सामाजिक क्षेत्र पर ऊंचे व्यय का प्रस्ताव किया था। ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत आधारभूत ढांचे के विकास को दी गई प्राथमिकता के मद्देनजर राज्य सरकारों ने तमाम परियोजनाओं विशेष रूप से बिजली एवं सड़कों की परियोजनाओं को कार्यान्वित करने की

परिकल्पना की है। कई राज्य सरकारों ने सार्वजनिक-निजी भागीदारी (पीपीपी) मॉडल के जरिए आधारभूत ढांचे से संबंधित परियोजनाओं को कार्यान्वित करने तथा जवाहरलाल नेहरू राष्ट्रीय शहरी नवीनीकरण मिशन (जेएनएनयूआरएम) के अंतर्गत शहरी आधारभूत ढांचे का विकास करने का प्रस्ताव किया है।

इसके अतिरिक्त, यह पाया गया है कि आर्थिक रूप से कम विकसित राज्यों का मानव विकास सूचकांक भी निम्न है और आर्थिक रूप से बेहतर राज्यों की स्थिति मानव विकास सूचकांक (एचडीआई) के मामले में तुलनात्मक रूप से अच्छी पाई गई। तथापि, मानव विकास सूचकांक तथा विकास के स्तर के बीच संबंध से मध्य आय वाले भारतीय राज्यों के बीच कोई संबंध प्रदर्शित नहीं होता। उदाहरणार्थ, जहां मध्य आय राज्यों के बीच केरल का मानव विकास सूचकांक ऊंचा है वहीं आंध्र प्रदेश तथा पश्चिम बंगाल में मानव विकास सूचकांक ऊंचे नहीं रहे।

IV. निष्कर्ष :

आर्थिक विकास तथा गरीबी उन्मूलन के लिए राज्य की सक्रिय भागीदारी पर आधारित भारतीय विकास मॉडल के पुराने प्रतिमान का इस्तेमाल निजी क्षेत्र, सहकारी संस्थाओं, व्यक्तियों तथा सामाजिक समूहों के दायरे में आने वाले क्षेत्रों को धीरे-धीरे प्रतिस्थापित करते हुए आर्थिक गतिविधि के प्रत्येक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप तथा प्रवेश को औचित्यपूर्ण ठहराने में किया गया। इसी के साथ सरकारी तंत्र में धीरे-धीरे परंतु व्यापक रूप से गिरावट आई और व्यवसाय, मजदूरों एवं किसानों के दृष्टिकोण एवं कामकाज में भी विकृति पैदा हुई। हालांकि यह विकृति सरकारी कामकाज के कुछ विशेष क्षेत्रों में तथा देश के कुछ विशेष क्षेत्रों में शुरू हुई थी लेकिन वह लगभग हर क्षेत्र में फैल गई जिसमें सरकार का हाथ था। इसके चलते विकास के पुराने प्रतिमान का अंत हो गया और एक नए दृष्टिकोण का जन्म हुआ।

यह नया प्रतिमान राज्य तथा लोगों की ताकत एवं कमजोरियों की स्पष्ट एवं गैर-सैद्धांतिक स्वीकृति पर आधारित है। एक लोकतांत्रिक समाज में उद्यमशीलता, नवोन्मेष तथा रचनात्मक विकास की विपुल संभावना होती है। लोगों, उनकी विभिन्न प्रकार की गतिविधियों तथा कंपनियों, सहकारी सोसाइटियों, समितियों, न्यासों तथा अन्य गैर-सरकारी संगठनों (एनजीओ) जैसी संस्थाओं को मौका दिया जाना चाहिए और उन्हें प्रोत्साहित किया जाना चाहिए कि वे अपनी यथोचित भूमिका निभा सकें। राज्य को केवल उसी क्षेत्र पर अपना ध्यान केंद्रित करना चाहिए जहां वह सबसे अच्छा प्रदर्शन कर सकता है और उन सभी गतिविधियों को छोड़ देना चाहिए जिन्हें व्यक्ति बखूबी या बेहतर ढंग से कर सकता है। आर्थिक सिद्धांत भी यह कहता है कि कुछ परिस्थितियों में बाजार की प्रतिस्पर्धा से सर्वाधिक सक्षम परिणाम निकलते हैं। राज्य को अर्थव्यवस्था का प्रबंधन करना चाहिए ताकि रोजगार एवं आय में वृद्धि की गति तेज हो सके और बरकरार रह सके तथा उसे यह सुनिश्चित करना चाहिए कि सभी नागरिकों को मूल सार्वजनिक वस्तुओं तथा सेवाओं में से उनका अंश प्राप्त हो रहा है और राज्य को गरीबों को सशक्त बनाना चाहिए ताकि उनका और समृद्ध नागरिकों के अधिकार (तथा उत्तरदायित्व) बराबर हो सकें। इसी प्रकार देश के आधारभूत ढांचे से संबंधित भारी भरकम जरूरतों को देखा जाए तो सार्वजनिक क्षेत्र को आधारभूत ढांचे को धन मुहैया कराने में एक बड़ी भूमिका निभानी होगी। सरकार आधारभूत ढांचे के घाटे को पाटने के लिए सार्वजनिक निजी भागीदारी (पीपीपी) मॉडल का सक्रिय रूप से इस्तेमाल कर रही

है और आधारभूत ढांचे के विकास में पीपीपी को बढ़ावा देने के लिए अनेक पहल किए गए हैं। परियोजनाओं की त्वरित अनुमति, लाल फीता शाही को समाप्त करने, अंतर्राष्ट्रीय सर्वश्रेष्ठ प्रथाओं को अपनाने तथा दिशानिर्देशों में एकरूपता लाने के लिए पीपीपी परियोजनाओं की मूल्यांकन व्यवस्था को सुव्यवस्थित किया गया है। तथापि, पीपीपी से जुड़ी चिंताओं एवं मुद्दों के प्रति जागरूकता की अभी भी कमी है और वह सभी राज्यों में एक समान नहीं है।

90 के दशक के प्रारंभ में 73 वें तथा 74 वें संविधान संशोधनों के जरिए शासन के विकेंद्रीकरण का दौर प्रारंभ हुआ जिससे स्थानीय जरूरतों के प्रति संवेदनशील बेहतर सार्वजनिक सेवाओं की उपलब्धता की आशा जगी। आयोजना के विकेंद्रीकरण के पक्ष में तर्क इस तथ्य पर आधारित है कि जिस कार्रवाई बिंदु पर सूचना पैदा होती है उसके तथा जिस बिंदु पर निर्णय लिए जाते हैं उन दोनों के बीच की दूरी जितनी बढ़ती है सूचना की लागत भी उतनी बढ़ जाती है। भारत के मामले में प्राकृतिक संपदाओं तथा विकास के स्तरों में व्यापक क्षेत्रीय असमानताओं के कारण एक समान रणनीति अनुपयुक्त हो सकती है जिससे योजना प्रक्रिया के विकेंद्रीकरण का औचित्य सिद्ध हो जाता है। विकेंद्रीकृत आयोजना का लाभ विकास की प्रक्रिया में लोगों की अधिक से अधिक भागीदारी सुनिश्चित करते हुए स्थानीय संसाधनों के दोहन की संभावना में निहित है जबकि केंद्रीकृत आयोजना तथा उसके कार्यान्वयन की मशीनरी के लोगों से न जुड़ पाने की संभावना जुड़ी होती है।

किसी भी नए दृष्टिकोण को उत्पादकता एवं दक्षता का प्रेरक होना चाहिए। नियम, विधियां तथा प्रक्रियाएं ऐसी हों कि उनके अनुपालन के लिए अपेक्षाकृत ईमानदार आर्थिक एजेंटों के लिए समय एवं धन का खर्च कम हो। आर्थिक सुधार की निरंतरता एवं निवेश की किसी प्रक्रिया के लिए जरूरी है कि उसके पास दीर्घकालिक नीति की योजना हो जिसके प्रति सरकार ईमानदारी से प्रतिबद्ध हो। किसी भी देश में सुधार तभी लोकप्रिय हो सकते हैं जब वे मानव विकास के पहलुओं (शिक्षा, स्वास्थ्य, बाल पोषण, पेयजल, नारी कल्याण तथा स्वायत्तता, इत्यादि) पर केंद्रित हों। प्रायः सुधारक विदेश व्यापार व्यवस्था, राजकोषीय घाटों तथा औद्योगिक निवेशों की समस्याओं से घिरे रहते हैं और वे मानते हैं कि यदि एक बार इन समस्याओं का निराकरण हो जाए तो उसका प्रभाव ही उन मुद्दों को हल कर देगा जो आम जनता के साथ जुड़े हैं। वित्तीय वैश्वीकरण के युग में भारत की अर्थव्यवस्था अंतर्राष्ट्रीय घटनाक्रमों से अलग-थलग नहीं रह सकती। इससे यह बात और भी अहम हो जाती है कि भारत दीर्घकालिक विकास को मजबूत करने तथा अपनी आर्थिक संभावनाओं को पूरा करने के लिए सही रणनीति अपनाए तथा सही कदम उठाए। इस संदर्भ में गवर्नर डॉ. रेड्डी[1] का उद्धरण समीचीन होगा : 'विकास के मार्ग में आगे बढ़ने के लिए भारत के मामले में निर्णायक कारकों में से एक कारक शासन में सुधार होगा जो अपना मुख्य कार्य अधिक प्रभावी और उचित ढंग से संपादित करने के लिए राज्य की क्षमता को मजबूत करने में महत्वपूर्ण है। सार्वजनिक संस्थाओं को सशक्त बनाकर शासन की गुणवत्ता में सुधार के साथ व्यवसायिक वर्ग का महत्वपूर्ण हित जुड़ा है क्योंकि सुशासन तभी स्थापित हो सकता है जब सार्वजनिक संस्थाएं अच्छे ढंग से और कारगर ढंग से अपना कार्य कर सकें।'

[1] भारतीय अर्थव्यवस्था पर कुछ परिदृश्य विषय पर डॉ. वाइ.वी.रेड्डी, गवर्नर, भारतीय रिज़र्व बैंक द्वारा पिटरशन अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र संस्थान, वाशिंगटन,डी.सी., अमेरिका में 17 अक्तूबर 2007 को दिया गया भाषण।